TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182041

UNIVERSAL
LIBRARY

षट्-दर्शन

पद्-दुर्गति

गोविन्द दास

सर्वोदय साहित्य मन्दिर
हुसैनी अलम रोड, हैदराबाद (द.) नं. २

PROGRESSIVE PUBLISHERS
प्रगति प्रकाशन

१६५३

प्रोग्रेसिव पबलिशर्ज़ ७/२३ दरियागंज, दिल्ली द्वारा प्रकाशित
और श्री कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, चर्खेवालान दिल्ली द्वारा मुद्रित ।

उपक्रम

[सामने दूर पर समुद्र अठखेलियाँ कर रहा है। साँयकालीन रक्ताभ आकाश दूर सागर से आलिंगन कर निस्सीम की सीमा निर्धारित सी किये है। बादलों के टुकड़े उसी ओर को जा-जा कर सीमा को लांघ, न मालूम कहाँ विलीन होते जा रहे हैं। उदधि की उर्मियाँ किनारे से टकरा-टकरा कर, अपना अस्तित्व मिटा, अगाध में एकाकार हो रही हैं। और वह पग डन्डी, जो सिन्धु-तट पर आ समाप्त हो गयी है, सर्पाकार होकर कहीं समतल, व कहीं चढ़ाव उतार लेती हुई बायीं ओर दूर तक पृथ्वी के किसी अन्तरंग प्रदेश में चली गयी है। ऐसी ही एक विशेष आकृति विशाल होकर इस दूरी को दाहिनी ओर से तोल रही है। नियति के सुधा-करों से सज्जित यह मार्ग, मार्ग तो है, पर सजल है। बायीं ओर के पथ का निर्माण पथिकों के चलने से हुआ है और दाहिनी ओर का मार्ग बनाया है प्रवाह के प्रवेग ने। दोनों पथों पर पांथ आ रहे हैं। एक जड़ जगत का है, जिसे विवेकशील मानव ने केवल नदी कहकर संतोष कर लिया है। दूसरा है चैतन्य का प्रतीक मनुष्य। यह पग-डन्डी के अन्तिम चढ़ाव पर से समुद्र की ओर आता हुआ दिखायी देता है। कुछ निकट आने पर आकृति स्पष्ट हो जाती है। तन पर श्वेत साड़ी है, जो वायु के झकोरों से सिर पर से हट गयी है। श्वेत-केश, पोपला मुख, झुकी कमर, अंग प्रत्यंगों की झुर्रियाँ और हाथ की लाठी, सब मिल कर कह रहे हैं, यह है—वृद्धा। वृद्धा का वर्ण गौर है, आँखें गंभीर और मुख सौम्य। वह धीरे-धीरे चलती चलती, रुक कर, पीछे की ओर देख, किसी को संबोधन कर कहती है]

वृद्धा

बाबा ! आगे-आगे चल न । तेरे ही पद-चापों को सुन कर तो मैं पथ पर बढ़ सकूंगी ।

[चार वर्ष का एक नग्न बालक उछल-उछल कर दौड़ता हुआ वृद्धा के आगे तक निकल जाता है । सृष्टि का यह खिलौना असाधारण रूप से सुन्दर है, जिसमें से आकर्षण की रश्मियाँ बिखर-बिखर कर उसके अद्वितीय सौन्दर्य का दम भर रही हैं । कान्ति गौर है, पवन से केलि करते हुए केश कांचन के से और लोचन चंचल । लाल लाल पतले-पतले ओठों के बीच श्वेत दन्त-पंक्ति ऊषा के पाणि-पल्लवों के मध्य से निकलती हुई शुभ्र रवि रश्मि की समता सी कर रही है । बालक मौन है, किन्तु उसकी बाल सुलभ चंचलता ही मानो उसकी वाणी है । उसके उन्हीं आकर्षणमय संकेतों का अनुसरण कर वृद्धा मार्ग में बढ़ती जाती है । अब बालक कभी दूर तक आगे निकल जाता है, फिर कुछ पीछे लौटता है, और कभी खड़ा हो, पथ के रज-कणों को अपने कर-कुसुमों में भर-भर कर मकरन्द सा मन्द मारुत को लुटा देता है । इस प्रकार चलते-चलते बालक स्थिर-सा होकर निर्निमेष दृष्टि से वृद्धा की ओर देखता है, जो शिथिल-सी होकर, कमर सीधी करती हुई, पीछे की ओर देखने लगी है । पीछे से एक बवंडर-सा उसकी ओर आ रहा है । और उसी के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की अत्यन्त धीमी वाद्य-ध्वनि । वृद्धा रुंधे हुए गले से चिल्ला पड़ती है]

वृद्धा

(पीछे की ओर देखते हुए) **मत...मत करो...मेरा पीछा; मुझे... मुझे जाने दो;...मैं जा रही हूँ ।...मुझे जाना ही पड़ेगा !** (सामने की ओर देख, बालक से, जो कुछ दूर खड़ा है) **अनंत ! ओ अनंत !** (एक हाथ बालक की ओर बढ़ाते हुए) **सहारा देना मुझे ।** (बवंडर और निकट आता है । फिर पीछे की ओर देखकर) **आह ! तुम बढ़े ही**

आते हो। और साथ...साथ में ये धूमिल चित्र! अरे! इन सुकुमार चित्रों को मेरे सामने न लाओ...न लाओ!

[बवंडर क्रमशः सघन हो कर वृद्धा, बालक, और फिर सारे दृश्य को कुहरे के सदृश ढँक लेता है। नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि भी उत्तरोत्तर उग्र होती जाती है।]

पहला दृश्य

बालिका

[बवंडर का प्रकोप-मात्र दिखाई देता है, जो क्रमशः हलका होता जा रहा है। इसी के साथ-साथ नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि भी धीमी पड़ रही है। और हल्के होने पर बवंडर के बीच में एक गुड़िया का मुख दिख पड़ता है। धीरे-धीरे इस मुख के चारों ओर का बवंडर भी लुप्त होता जाता है। कुछ ही देर में जिस काष्ठ की चौकी पर गुड़िया रखी है, वह चौकी, उस पर दूसरे कई प्रकार के खिलौने, उस चौकी के निकट ही एक अन्य चौकी, उस पर फल, दोनों चौकियों के समीप एक छोटे से पलंग पर लेटी हुई पांच वर्ष की सुन्दर बालिका, उसके पास ही एक आसंदी पर बैठी हुई उसकी माँ और पुराने ढंग की सजावट से सजा हुआ सारा कक्ष दिखने लगता है। बालिका और माँ की वेश-भूषा भी प्राचीन-काल की ही है। माँ बालिका को सुलाने में दत्तचित्त है। बवंडर अब पूर्ण रूप से स्वच्छ हो, नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि गायन में परिणित हो जाती है। गान है माँ द्वारा गायी जाने वाली लोरी। माँ के झुंझलाए हुए मुख और हाथों की थपकिओं के ढंग से जाना जा सकता है कि बालिका ने माँ को यथेष्ट रूप से तंग किया है।]

गाना

आरी निंदिया, आजा।
आजा, आजा, आजा।
आ तू, धीमे धीमे आजा।
इन चंचल नन्ही पलकों में ढुलका जा अपनी मधुप्याली
और लाडली के कानों में 'सोजा सोजा' गाजा।

जीवन की यह एक कहानी,

जिसको बार बार पढ़ती हूँ आंखों में भर भर कर पानी
सखि, दुलार की इस भाषा को तू ममता बन गाजा।

मैं सपनों में साथ रहूँगी,

इसके मन की बातें सुन-सुन अपने मन की बात कहूंगी
पर वे सपने टूट न पावें छा तू इतनी छाजा।

आरी निंदिया, आजा।

[बालिका अनमनी सी माँ की ओर देखते-देखते नेत्र बन्द कर लेती है। कुछ ही देर में बालिका के मुख पर स्वाभाविक भोलापन लौट आता है। माँ अपनी लाडली को सोया हुआ देख, दोनों हाथों से पास्ते की चादर उसे उढ़ाने के लिए खींचती है, पर उढ़ाने के पूर्व क्षण भर के लिए उसके मुंह पर की सारी झुंझलाहट विलीन हो चुकी है और उसका स्थान ले लिया है माता के अगाध स्नेहमय भावों ने। वह बालिका को चूम, उसे उस चादर से ढक, दबे पाँव एक द्वार की ओर चल देती है। माँ ज्यों-ज्यों द्वार की ओर बढ़ती है, त्यों-त्यों बालिका अपने मुख पर की चादर क्रमशः हटाती जाती है। ज्यों ही चादर आँखों के नीचे हटती है, त्यों ही जान पड़ता है कि बालिका के लोचनों ने चंचल मीन की तुलना को सार्थक कर दिया है। माँ के अदृश्य होते ही बालिका पलंग से कन्दुक के समान उछल, पास ही पड़े हुए अपने कन्दुक को उठाती और उसे उछालती है। गेंद उछल कर पहले चौकी पर गिरती है, जिससे गुड़िया नीचे गिर पड़ती है। बालिका दौड़ कर गुड़िया को झाड़ते हुए उठाती है। फिर किंचित् रुक कर एक हाथ से गुड़ी को पकड़, दूसरे हाथ से उसे चपत जड़ते हुए कहती है]

बालिक

(क्रुद्ध स्वर में) **औल ऊधम तल !...औल ऊधम तल !** (कुछ रुक कर, उसके पैरों पर हाथ फेरते हुए, सौम्य स्वर में) **तहीं लद तो नहीं दया ?** (पैरों की ओर ध्यान से देखते हुए) **तहीं तो नहीं । धोंद तलती है ? अले ! अब चुप भी होजा ! आ...ओ !...ओ !...ओ ! ...**(ओ...ओ...कहते हुए गुड़िया को गोद में ले, उसका सिर कन्धे से चिपका लेती है । कुछ देर इसी अवस्था में चुपचाप टहलती है । इसी बीच वह दूसरी चौकी पर रखे हुए फलों में से एक अमरूद उठा लेती है अमरूद गुड़िया को दिखाते हुए) **देथ ! देथ ! लहू है लहू !... ले धातो ।** (अमरूद स्वयं खाते हुए) **मुन्नी बेता लहू थायदी ।...मुन्नी बेता लहू थायदी ।** (इस प्रकार कहते और टहलते हुए पूरा अमरूद स्वयं खा जाती है । अमरूद समाप्त होने पर गुड़िया को वैसे ही चिपकाए, थपथपाते हुए) **अच्छा, अब रानी बितिया तो निदू आयदी** (अपने पलंग पर गुड़िया को सुला, जिस आसेंदी पर माँ बैठी थी यहाँ स्वयं बैठ उसे थपकियाँ दे, गुनगुनाती हुई माँ की गायी हुई लोरी के चरणों को गाती है ।)

गान

आरी निंदिया आजा ।
आजा, आजा, आजा ।
आतू, धीमे, धीमे आजा ।
इन चंचल नन्हीं पलकों में घुलता जा अपनी मधुप्याली
और लादली ते तानों में 'छोजा छोजा' गाजा—।

[अब बालिका माँ के समान ही गुड्डी की चादर उढ़ाने का उपक्रम करते हुए, उसे चूम, दबे पैर जिस द्वार से माँ गयी थी, उसी द्वार की ओर जाती है; परन्तु सामने ही माँ को देख, सहम कर खड़ी हो, अपने दोनों हाथों से अपना मुख छिपा लेती है । माँ आतुरता से उसे गोद में उठा लेती है और

भ्रान्त-सी उसके गालों को न जाने कितनी बार चूमती है। माँ के मानस का नेह छलक कर आँखों से ढुलक जाता है। बालिका अपने दोनों हाथ माँ की ग्रीवा में डाल देती है; क्षण भर पश्चात् वह माँ की ओर देखती है और फिर एक टक देखती ही रहती है। साथ ही उसके एक हाथ की उंगलियाँ माँ के कपोल पर से सरकती हुई नेत्रों के कोरों के पास स्थित आँसू को छू देती हैं। कक्ष फिर कुहरे से ढंकना आरम्भ होता है। नेपथ्य से उसी प्रकार की वाद्य-ध्वनि सुन पड़ती है, जैसी वृद्धा ने उपक्रम में उस समय सुनी थी जब उसे बवंडर आने का प्रथम आभास मिला था। वाद्य-ध्वनि अत्यन्त धीमी है। इसी ध्वनि के बीच नेपथ्य से ही वृद्धा का स्वर सुन पड़ता है]

वृद्धा

हाँ,...हाँ, मैंने ही उस कण को छुआ था; और...मुझे ही अधिकार भी था उसे छूने का।...माँ की आँखों से बहा हुआ वह आँसू का एक कण।...नहीं, नहीं, आँसू कहकर मैं उसकी महत्ता घटा रही हूँ। आँसू तो केवल रोदन मात्र—खारा पानी है।...वह...वह तो निर्मल था...और मोती के समान स्थिर हो गया था माँ के आनन पर।... मोती!...अरे!...मोती तो उसे कवि कह सकते हैं, जिसका मूल्य आँका जा सकता है; वह जड़ नहीं था, मोती नहीं था।...ओस की बूंद सा तरल, नयनाभ्र का अतुल कोश!...ओस की बूंद! ...अरे! वह...वह तो शीतल होती है, शीतल, जिसमें जीवन नहीं। माँ का वह कण न तो मोती-सा जड़ था, न ओस सा शीतल; वह...वह तो दृश्य होते हुए भी एक अदृश्य भाषा,...एक मौन वाणी थी!...

[उपर्युक्त कथन के चलते हुए कुहरा सघन होता जाता है और

वाद्य-ध्वनि भी तीव्र। कथन पूरा होते-होते दृश्य कुहरे से ढंक जाता है; वाद्य-ध्वनि में विभीषिका आ जाती है; और सघन कुहरा बवंडर का रूप धारण कर लेता है।]

दूसरा दृश्य

अज्ञात यौवना

[उपक्रम का बवंडर शान्त और वाद्य-ध्वनि धीमी हो, जिस प्रकार प्रथम दृश्य में गुड़िया का मुख दिखा था, उसी भांति अब बवन्डर शान्त और वाद्य-ध्वनि मन्द होते हुए बवन्डर के बीच में एक कुसुम-कली और उस पर स्थिर-सा मंडराता हुआ एक भौंरा दीख पड़ता है। धीरे-धीरे भ्रमर की उड़ान का घेरा बढ़ता जाता है, उतनी ही दूर का बवंडर स्वच्छ होता जाता है। कुछ ही देर में कली का वन्न, क्यारी और क्रमशः एक उद्यान दृष्टिगोचर होता है। उद्यान प्राचीन काल को बनावट का है। बवंडर लुप्त होता जाता है और वाद्य-ध्वनि समाप्त होते-होते मधुर राग में परिणित हो जाती है, जिस पर एक कोमल स्वर-लहरी क्रमशः स्पष्ट होने लगती है। उड़ता हुआ सारंग अब उद्यान में एक ओर बैठी हुई सुषमा की एक सजीव प्रतिमा के सिर पर मंडराने लगता है। गान स्पष्ट हो जाता है]

गान

मधुर मधुर महक रही नवल कली।
तिमिर जगत में, किलता अकों में।
तू पवन की गोद में बढ़ी पली।
मधुर मधुर महक रही नवल कली।
निष्ठुर पर कौन वहां
तारों की आँख को मीच रहा;
चचल कर को पसार
उस भौंने अंचल को खींच रहा?

लाजों की मारी वह हाय ! मरी !
बात प्रात की कि रात जाग चली ।
सिहर सिहर चटक रही विकल कली ।

.....

गुन-गुन मत छेड़ मुझे
ओ भँवरे !
सुमनों की शपथ तुझे ।
मेरे मन की उलझन
सुलझा क्या सकती है तेरी गुन गुन गुन गुन ।
आंखों में कौन सजल
प्राणों को जो छूता
किसका वह परस मृदुल ?
कह तो दे लगतो क्यों अधिक भला ?
इधर उधर ललक रही सजल कली !
मधुर मधुर महक रही नवल कली ।

[यह षोडशी पैरों को आधा फैलाये, पीठ को वृक्ष से टिकाये, खुले सिर को झुकाये, प्रायः बन चुकी माला को गोद में लिये, उसके डोरे में अधखिली कलिओं को पिरोने में दत्तचित्त, गाने में तन्मय सी है । षोडशी की वेश भूषा प्राचीन काल की है । उसकी दाहिनी ओर वे कलिआँ पड़ी हुई हैं जो इस समय में गूंथी जा रही है । षोडशी उस अलि को हाथ से उड़ाते, हाथ में गाँठ लगाते और फिर दोनों हाथों में उसे लेकर अपने स्वाभाविक अल्हड़पन से फिरकनी सी घूमती हुई झूम कर उठती है ।]

षोडशी

साँवरे ! कब से छेड़ रहा है मुझे ? गुन गुन...गुन गुन...गूँग कहीं का ! (भौंरा उड़ कर एक खिले हुए कुसुम पर बैठ जाता है

और थोड़ा सा बढ़ कर सिर हिलाते हुए) **फिर बैठ गया न फूले फूल पर ! तेरा मेरा साथ कैसा ? मैं कलियों से केलि करती हूँ और तुझे प्रफुल्लित पुष्प प्यारे हैं ।...सुमनों में सौरभ होता है ?...हाँ, हाँ, मैं जानती हूँ—सुमनों में सौरभ होता है ।** (कहते कहते गीत की एक पंक्ति गद्य में बोलते हुए)...**कह तो रे लगती क्यों अधिक भली ?...** (झूमती हुई भ्रमर की ओर बढ़ती है । भौंरा उस फूल को छोड़ ऊपर की ओर मंडराने लगता है । ऊपर देखकर) **तू झूमता है और मैं भी झूमती हूं ।...आह ! कितना सुख मिलता है ! क्यों ?...नहीं जानती । ...तू क्यों झूमता है कुछ कुछ समझती हूं—कुसुमों पर बैठ कर मकरन्द पीता है न !...मकरन्द...मकरन्द...पर मकरन्द में ऐसा है क्या ?** (गुलाब के पौधे के निकट जाकर अपने दोनों हाथों से एक विकसित प्रसून को सहलाते से) **तू बतला सकता था यदि मैं भौंरा होती ।** (गाने की एक पंक्ति गाते हुए इठला कर दूसरी ओर जाना चाहती है)...**लाजों की मारी वह हाय ! मरी !**...(फूल को छोड़ने की वह चपलता उंगली में काँटा चुभो देती है । उंगलियों को झटकारते हुए)...**आह निर्मम !**

[इसी बीच एक तरुण आकर उसके सामने खड़ा हो, दबी मुस्कान के साथ प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखता है । युवक अत्यन्त सुन्दर है । उसकी वेश-भूषा प्राचीन-समय की ही है ।]

षोडशी

(तरुण को ओर देख) **निर्मम ! तुम भी अच्छे हो ! रुष्ट न होना, निर्मम, मैंने तुम्हें नहीं,** (गुलाब के काँटों की ओर संकेत कर) **उन्हें कहा था ।** (उंगली जिसमें सूक्ष्म रूप से रक्त अब तक लगा था, युवक को दिखाते हुए) **यह देखो न, लहू निकल आया !**

[तरुण बड़े प्रेम से अपने उत्तरीय से उसकी उंगली पोंछना चाहता है ।]

षोडशी

ऊं हूं !...उस दिन मेरी उस सखि को भी ऐसा ही हुआ था। उसने उंगली चूस ली थी। (सिर कुछ झुका कर उंगली चूसने लगती है पर पलक हिलाते हुए युवक की ओर देखती है। उसी समय सामने कुछ दूर पर आम्र-तरु पर कोकिल कूक उठती है। षोडशी पिक का कूजन सुनते ही बिना हिले डुले एवं वैसा ही नत-मस्तक किये दृष्टि को कोयल की ओर ऊपर को उठाती है। क्षण भर पश्चात् उसके हाथ नीचे हो जाते है, मानों कांटे का चुभना ही वह भूल गयी है। कोकिल की ओर देखते-देखते) **कलमुंही कहीं की !** (मुंह बिराते हुए) **कुहू...कुहू !...कुहू कुहू...। नित्य ऐसे ही बोला करती है। न जाने किसे बुलाती है गला फाड़ फाड़ कर ? क्या खो गया है तेरा ?...**

[युवक उन्मत्त-सा, पर अपने को पूर्णतया संभाले हुए, बढ़ कर, षोडशी का एक हाथ अपने दोनों हाथों में ले, प्रेम से दबाता है।]

षोडशी

(तरुण की ओर देखते हुए) **तुम जानते हो ?...तुम्हीं बताओ, किसे बुलाती है यह ?...क्या खो गया है इसका ?**

[युवक उत्तर में उसका हाथ चूमने के लिए उसे अपने ओंठों की ओर खींचता है।]

षोडशी

(हाथ झटकते हुए) **रहने दो** (उंगली की ओर देखते हुए) **लहू तो बन्द हो गया है।**

[इतने में ही एक भ्रमर सामने से उड़ता हुआ जाता है। सारंग की गति के साथ ही षोडशी का आनन घूमता जाता है। अलि एक फूल पर बैठने का उपक्रम करता है, जिस पर एक भौंरा पहले से ही बैठा था और दूसरा ऊपर मंडरा रहा था।

षोडशी

देखो तो, कुसुम तो एक और भौंरे कितने घेरे हुए हैं! कैसी उलझन है? कुछ...कुछ समझ में नहीं आता!

[षोडशी का वाक्य पूरा होते न होते, एक पुरुष-छाया उसी पौधे पर पड़ती है। षोडशी चपलता से आगन्तुक की ओर देखती है।]

षोडशी

(नमन के लिए दोनों हाथ उठाते हुए) **नमस्ते, भावुक! स्वागत है।**

[धीरे धीरे फिर वही बवंडर, नेपथ्य से फिर वही वाद्य-ध्वनि; और नेपथ्य से ही वृद्धा का स्वर।]

वृद्धा

वह...वह भी एक जीवन था।...पूर्ण विकसित होने के पूर्व अधखिली कली के रूप में मेरा यौवन। सौरभ था उसमें! मकरन्द था उसमें! और मंडरा मंडरा जाते थे अलिवृन्द झूम झूम कर।...पर मैं...मैं उनका मर्म ही न समझती थी।...फूल...नहीं नहीं, कलियाँ, हाँ, कलियाँ चुन चुन कर हार गूंथती थी, और,...और फिर स्वयं... स्वयं ही उन मालाओं को पहन-पहन कर मतवाली हो जाती।...मैं चातकी प्यासी-सी नभ में मेघों के साथ-साथ उड़ती थी, पर पहचानती न थी कि कौन हैं स्वाति के वे घन, मेरी तृषा को अमरता का वर देने वाले।...न दुख जानती थी और न सुख चीन्हती थी।...न वियोग से परिचय था और न संयोग के स्वार्गिक क्षण से।...जगत की आँखें मुझे

पहचानने लगी थीं, पर मैं ?...मैं स्वयं ही न पहचान पायी थी अपने आपको !

[बवंडर का दृश्य को ढकना और वाद्य-ध्वनि का तीव्र होकर वृद्धा के स्वर को लुप्त कर देना ।]

तीसरा दृश्य

विवाहिता

[बवंडर और नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि धीरे-धीरे उसी प्रकार लुप्त होती है, जिस भाँति पहले तथा दूसरे दृश्य में हुई थी। बवंडर के बीच में गिरते हुए झरने का एक छोटा सा स्रोत दिखता है। शनैः शनैः पूरा निर्झर, नीचे समतल भूमि में धारा के रूप में उसका प्रवाह, चारों ओर का हरा-भरा पर्वत-प्रदेश और झरने के निकट एक चट्टान पर बैठी हुई विवाहिता तथा उसकी सखी दिख पड़ती हैं। दोनों युवती हैं और वेश-भूषा प्राचीन ढंग की।]

विवाहिता

(कभी निर्झर और कभी सखी की ओर देखते हुए)...**और...और, सखि, जब मैं माँग में सिन्दूर भर कर अपने देवता के मन्दिर में पहुँची, उनके प्रांगण में वैभव हंसता था, विलासिता मुस्कराती थी और निर्यात मूक भाव से बैठी बैठी यह सारा दृश्य देखती थी।...उसी प्रांगण में मैंने अपने जीवन का प्रथम वसन्त देखा। तब मैं बिना भ्रमर बने ही सुमनों के मकरन्द का मर्म समझ गयी। कोकिल किसे बुलाती है, क्या खोजती है, यह भी मुझ से छिपा न रहा।...मैंने उनके चरणों में आराधना के लिए स्थान पा लिया। सखि, देवता मेरे थे और मैंने ही उन्हें पहचाना।...उन्हें वैभव प्राप्त था, वैभव ने विलासिता से व्यापार किया था; विलासिता प्यालियों में छलकी थी और थिरकी थी घुंघरुओं के स्वरों में स्वर मिला कर।...मैंने जाते ही प्यालियों को कोसा; वे बोल उठीं—'हमारा क्या अपराध!...वह युग युग की वेदना संचित कर**

आते थे हमारे पास, हम उनका जी बहलाती थीं।...और फिर आरम्भ हो जाता था प्रेम का वह अभिनय...अभिनय मात्र !...पर...पर अब वह नहीं आते हमारे पास।'...हाँ, सखि, उन्होंने अपना बिखरा स्नेह संचित कर मेरे अंचल में भर दिया। मैं दौड़ने लगी उनकी पद-ध्वनियों के संकेतों पर; और सच कहूँ, सखि, वह डोलने लगे मेरे साथ, मेरी छाया बन कर !...मुझ में भावुकता थी और इसलिए वह कभी कभी मुझे 'कविते' कह कर पुकारा करते।...मैं खीझ उठती उनके इस संबोधन पर। तब वह हंस कर कहते—'तुम्हें अपनी कविता पर गर्व नहीं, ऐसा नहीं, पर, कविते ! मैं तुमसे श्रेष्ठ कवि हूँ। तुम्हारी कविता अभी कल्पनाओं में ही उलझी है और मैं कल्पना से साकार को पहुंच चुका हूँ। मेरी कविता साकार है, साकार !' कहते-कहते वह तन्मय होकर मुझे अपने बाहुपाशों में गूंथ लेते और मैं बेसुध सी हो जाती।...मेरे पूर्व परिचित कवि मेरी भावुकता के कारण मेरे मित्र थे। वह वैसे ही आते और मैं उनसे वैसे ही मिलती।... जीवन ने वसन्त देखा था,...ऋतुराज का स्वागत किया था, कवि साथ थे ही। मेरी भावना एक नूतन संसार के सृजन में व्यस्त हो गयी। ...उस लगन में मैं कभी कभी देवता की पद-ध्वनि के संकेतों को न पहचान पाती।...श्रेष्ठ कवि ने अपनी कविता को विभ्रम देखा;...पर वह श्रेष्ठ कवि जो थे।...उनकी साधना में किंचित् मात्र भी विघ्न न पड़ा, किन्तु मानसिक द्वन्द्वों ने उन्हें वेदना के कण्टक पथ पर ढकेल अवश्य दिया।...छलकती हुई प्यालियाँ फिर उनका हृदय सुहलाने लगीं; हां संगीत पर ताल देने वाले घुंघरू उनके समीप न आ सके। ...जानती हो, सखि, क्यों ?...मेरे देवता महान थे। उन्होंने जीवन में अपने आप ही सत्य देखा था, वह सत्य, जो अभिनय का अस्तित्व ही मिटा देता है।...मैं अन्धकार में आलोक ढूंढने वाली यह सब न देख सकी; और, कवि मेरे अनजाने उनसे स्पर्धा कर बैठा; या यों कहो, सखि

स्वार्थ साधना से टकरा गया।...पर स्वार्थ, स्वार्थ था और साधना, साधना थी।...उन्होंने सोचा कि कवि मेरे सुखों की निधियाँ अपने गीतों में छुपाये हुए है—गीत अपने रागों में निधियों को लुटाना चाहते हैं, पर वे अनभ्यस्त-वादक के समान रागों को स्वर-लहरी में मिलने नहीं देते।...उन्होंने कवि के संकेतों को ही सत्य माना और मेरे सुखों की कामना में मुझे कवि के सहारे छोड़ के चल दिये।...तमसा में मेरी चोरी हुई थी।...मेघों की गरज और दामिनी की दमक ने मेरे मीठे सपनों को तोड़ दिया।...मैंने डर कर उनके बाहु-पाशों को ढूंढा, पर वह पास न थे। मैं घबरा गयी और भ्रान्त सी न जाने कब तक उन्हें पुकारती तथा ढूंढती रही।...परन्तु वह जा चुके थे।...मैं कवि के पास सहारे के लिए पहुँची, किन्तु द्वार पर ही मुझे एक पत्र मिला। पत्र पर कवि का नाम था।..फिर-परिचित अक्षर मुझसे अपने आप को छिपा न सके।...मैंने एक ही दृष्टि से सारे पत्र को पढ़ डाला, फिर समझ समझ कर पढ़ा और तब तक पढ़ती रही, जब तक मेरे खारे आँसुओं ने उसे धुंधला न बना दिया।. पत्र में देवता ने लिखा था—'कवि! मैं अपनी कविता तुम्हें सौंपता हूँ। कविता सुकुमार होती है, मेरी कविता भी सुकुमार है, बहुत सुकुमार; जिसमें तुमने वेदना का संचार बताया है। तुम कवि हो, और कवि सब कुछ कर सकता है। तुम मेरी कविता में सुख की भाव-रश्मियों से वेदना तिमिर को आलोकमय कर देना; और, तब, कवि, कविता तुम्हारी हो जायगी और मैं साधना के तत्व को समझ लूंगा।'...आह, सखि, मैं अपने ऊपर ही आर्तनाद कर उठी।...मुझे लगा मेरी चीत्कारों से दशों दिशाएं, सारा विश्व व्याप्त हो प्रतिध्वनि कर रहा है। और कवि? वह तो उस उग्र थपेड़े से बालू की ढेरी के समान छार-छार हो गया।...तब से, सखि, मैं (झरने की ओर संकेत कर) इस झरने

के सदृश दौड़ती हुई मिलन की अमर अभिलाषा लिए अपने देवता को खोज रही हूं ।...कवि भी मेरे साथ है...मेरे देवता के चरणों में गिर कर अपने अभिशाप का मिटाने के लिए । . परन्तु, सखि, मैं थक गयी हूँ ।...अब चला नहीं जाता ।.. उनका प्रति-बिम्ब मेरे अन्त: में पल रहा है ।...उस छोटे से दीपक के सहारे पर ही मैं पलकों के पाँवड़े बिछा कर देवता की बाट जोहूंगी ।

[फिर बवंडर; फिर नेपथ्य में मन्द वाद्य-ध्वनि और उसी के साथ वृद्धा का स्वर]

वृद्धा

सृष्टि के आदि से ही विवेकशील मानव जीवन-गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है । न जाने कब से यह होते रहने पर भी मनुष्य अपने अन्तिम पड़ाव को पहचान न पाया।...पर मेरे मानस में बैठ कर मेरे देवता ने अपने प्रवीण करों से मेरी जीवन गुत्थी को सुलझा-सुलझा कर मुझे अभय वर दे दिया था । ..मैंने अपने आपको ठीक पथ पर पाया ।...मैं चल पड़ी उस मार्ग में ।...कितना सुख था उस यात्रा में । ...न कभी थकती थी, न कभी ऊबती । देवता जो साथ थे मेरे ।...और, वह...वह तो उन्होंने मेरी परीक्षा ली थी । मुझे अभ्यस्त बना कर छुप गये थे किसी ओर ।...आँख मिचौनी खेली थी उन्होंने ।...मैं भी डरी नहीं ।...यद्यपि वह अस्थायी रजनी थी, तथापि दूर दूर मेरी आँखों ने देखा कि उनकी स्मृति का वह दीप अब भी मेरे पथ में अपनी रश्मियाँ बिखेर कर उसे आलोकित कर रहा है ।

[बवंडर में दृश्य और नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि में वृद्धा के स्वर का लोप ।]

चौथा दृश्य
गर्भिणी

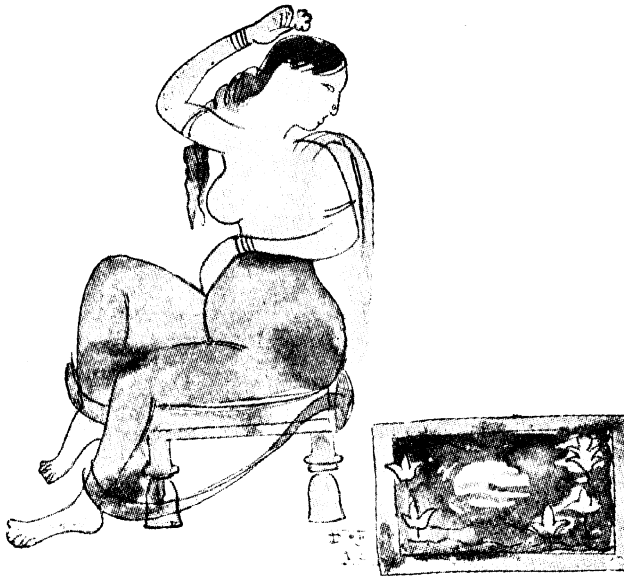

[हल्के होते हुए बवंडर के बीच में पानी में पड़ते हुए त्रयोदशी के चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखता है। धीरे-धीरे एक छोटा सा सरोवर, उसका घाट और घाट पर एक ओर आधी लेटी हुई गर्भिणी दृष्टिगोचर होते हैं। बवंडर और नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि शनैः शनैः बन्द हो जाते हैं]

गर्भिणी

(चन्द्रमा के प्रतिबिंब को देखते हुए, सरोवर को संबोधन कर) **पुष्करिणी ! तेरा अणु अणु आज मुझे आनन्द-विभोर कर रहा है।... जानती है—क्यों ?...बताती हूं।** (चुपके से चारों ओर देखने के पश्चात्) **सखि, तू मेरा चित्र उतार बैठी है अपने हृत्-पटल पर।...तेरी ओर देखती हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मैं अपने आप ही को देख रही हूँ।** (उसी समय एक पक्षी जल में छपका मार, उड़ जाता है जिससे शशधर का प्रतिबिंब उस हलचल में चंचल हो उठता है। प्रतिबिंब की ओर तर्जनी उठा) **वह चंचल प्रतिबिंब !...हाँ, हाँ, वैसा ही एक मेरी सांसों में अपने नन्ही-नन्ही साँसें मिला रहा है।** (आकाश में शशि की ओर देख) **तेरे कंत तुझसे बहुत दूर, अति दूर हैं, और मेरे कंत भी मुझसे बहुत दूर, अति दूर हैं। किन्तु** (पुष्करिणी की ओर देख) **तुझ में तेरे कंत का प्रतिबिंब समाहित है और मुझ में मेरे कंत का।** (फिर मयंक की ओर देखकर) **तारापति ! मैं तुम्हें देवता कहती थी।...देवता बार बार संबोधन ने ही तुम्हें कठोर बना दिया।...निर्मम ! तुम मुझसे रूठ कर चले गये, तुम रूठ कर मुझे निर्धन बनाना चाहते थे, परन्तु तुमने मेरी माँग में सिंदूर जो भरा था।...मैंने तुम से अधिकार पूर्वक**

तुम्हारी मुस्कानें छीन लीं।...पर, हाँ, तुम जिस दिन लौट कर आओगे, उसी दिन, हे कलाधर ! उन मुस्कानों में मैं अपनी मुस्कानों को मिला कर तुम्हारी विमल गोद भर दूंगी,...और, मना लूंगी तुम्हें फिर से देवता कह कह कर। (एकाएक उठ कर बैठती है। उसकी मुख-मुद्रा से जान पड़ता है जैसे उसे कोई क्षणिक पीड़ा हुई है। फिर से पीड़ा निवृत्ति का अनुभव करते हुए, यह भी उसकी मुद्रा से ही दिख पड़ता है। नीचे प्रतिबिम्ब को देखते हुए) आह ! चंचल ! (अब लजाती हुई अपने आप पर ही हंस देती है। एकाएक बदली का टुकड़ा चन्द्रमा को ढंक लेता है। वह चांदनी-सा आकाश की ओर देखती है। व्योम में ज्योत्स्ना बिखरी थी। चारों ओर तारे भी छिटके थे पर तारानाथ घटा से ढके थे। वह मेघ श्याम था, तथापि उसके चारों ओर की लीक चन्द्रिका से चमक रही थी। कुछ रुक कर।) बादल !...मेघ !...नहीं, नहीं तू तो घनों की प्रतीक मात्र है—एक छोटी सी छटा।...फिर भी गर्भिणी है।...हां, हां, तू गर्भिणी है !...तेरे श्याम अंचल में तेरे मानस का नेह झलक रहा है।...और...और मेरे अंचल में ?

[एकाएक कुमुदनी-पति अभ्र से निकल आता है। वह अंचल को संभालती हुई चन्द्रमा की ओर देख अपने आप पर ही लज्जित सी कुछ गुनगुनाने लगती है और गुनगुनाते गुनगुनाते गाने। गाते-गाते वह खड़ी हो जाती है। कुछ देर में धीरे धीरे टहलने लगती है। गीत चलता रहता है।]

गान

मानस नभ के शशि ! आओ तो।
मैं वीणा में स्वर भरती हूं,
स्वर पर, प्रिय, क्षण भर गाओ तो।

देव, कामनाएं तारक सी
बिखरीं मेरे उज्वल पथ पर,

बहने को उत्सुक कितने हैं
सुख इन नयनों के निर्झर,
मेरे वे खारे से सागर
मिलन पर्व में लौटाओ तो।

प्राण! प्रतीक्षा में मृदु सुख का
तुमने जो अधिकार दिया है,
पर विनिमय में मौन-मौन ही
मुझ से मेरा प्यार लिया है,
बाँध रही मनुहारों से अब
निर्मम! हा! तुम बंध जाओ तो।

प्राणों में स्पन्दन भरती हूं
वह छवि, छवि में परिचित छाया;
पूजन, अर्चन, तन्मयता में
हाँ, हां, मैंने सब कुछ पाया:
आशा शिशु बन थिरक उठेगी
मेरे आकर्षण लाओ तो।

[पुनः बवंडर; पुनः नेपथ्य में धीमी वाद्य-ध्वनि और वृद्धा का स्वर]

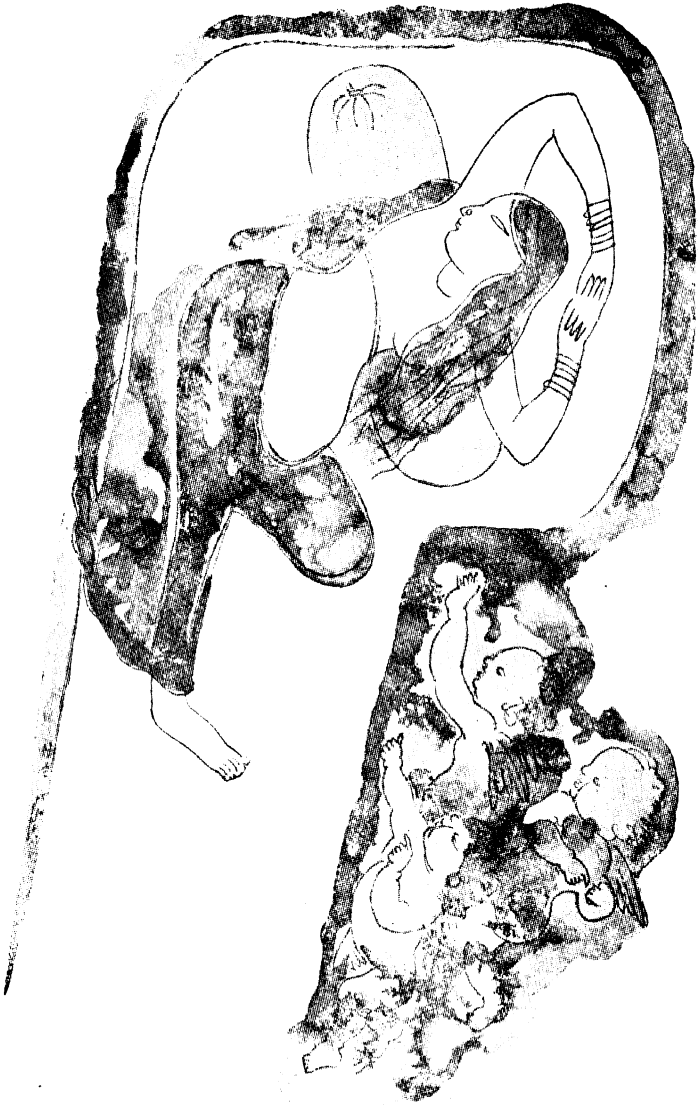

वृद्धा

मानस नभ के शशि ! आओ तो ! मैं वीणा में स्वर भरती हूं, स्वर पर, प्रिय, क्षण भर गाओ तो ।...मैंने वीणा के स्वर छेड़े; स्वरों के उन संकेतों पर तुम न आये, पर, देवता, मैं वीणा बजाती रही। तुम्हें रिझाने के लिए, तुम्हें मनाने के लिए ।...एकाएक वीणा के स्वर कोमल से कोमलतर होकर मुझे श्रान्त...हाँ, हाँ, श्रान्त बनाने लगे। ...रजत-रश्मियां मेरे आँगन में बिखर चुकी थी और भीग चुका था मेरा अंचल उस नन्हें के नेह में ।...वह...वह अपनी मुस्कानें यहाँ-वहां बिखेरता फिरता था, और मैं संजोती फिरती थी उन निधियों को देवता को अर्पण करने के लिए ।...आह ! जीवन कितना दुःख-मय होता है। पर मानव उसे भविष्य की आशाओं से सींच-सींच कर कितना मधुर एवं स्वार्गिक बना लेता है।

[बवंडर में दृश्य और नेपथ्य की वार्ता-ध्वनि में वृद्धा के स्वर का लोप।]

पाँचवां दृश्य

पुत्रवती

[बवंडर और नेपथ्य की ध्वनि क्रमशः शान्त होती है। शान्त होते हुए बवंडर के बीच में एक छोटा सा पौधा दिख पड़ता है। पौधे पर एक गेंद आकर गिरती है। पौधा गिर सा पड़ता है। किन्तु तत्काल ही दो हाथ उसे संभालने के लिए झुकते हैं। स्वच्छ होते हुए बवंडर में, जिसके हाथ हैं वह व्यक्ति और थोड़ी ही देर में सारा दृश्य दिखने लगता है। एक सुन्दर पुराने ढंग का उद्यान है। दूर पर फलों से लदे हुए भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्ष हैं। अनेक पर ललित लताएं लिपटी हुई झूम रही हैं। निकट क्यारियों में पुष्पों के पौधे हैं। यत्र-तत्र लता-मंडप भी बने हैं। सब से निकट की क्यारी के सब से समीप के पौधे पर गेंद का यह प्रहार हुआ है। वेष-भूषा प्राचीन काल की है। युवक से कुछ दूर तक चंचल और सुघर बालक चपल दृष्टि से कभी इस तरुण, कभी पौधे और कभी गेंद की ओर देख रहा है।]

नेपथ्य से

सुकुमार बिचारा ! माँ की गोद से लिपटा हुआ आकाश में कितनी लालसा भरी दृष्टि से ताक रहा था बादल की ओर, अपने पिता की ओर, जिसे उसने जीवन दिया।

[उपर्युक्त कथन तरुण को चौंका देता है। वह अपने को सँभालता, इधर-उधर देखता हुआ उठता है। बालक और उद्भिज-सृष्टि के अतिरिक्त वहाँ और कोई न था। बालक की दृष्टि अब पौधे के निकट पड़ी हुई अपनी गेंद पर थी, पर अपरिचित व्यक्ति के वहाँ होने के कारण वह उस ओर बढ़ न पाता था, जो उसकी मुद्रा से जान पड़ता था।

युवक कभी बालक और फिर यत्र-तत्र देखता हुआ किंकर्तव्य-विमूढ-सा खड़ा रह जाता है। नेपथ्य का कथन चलता रहता है]

नेपथ्य से

तुम कितने सहृदय हो !...पौधे की चोट को पहचानने वाले ! अति सहृदय !...सहृदय ! तुम्हें पौधे प्यारे हैं ! तुम्हारे उपवन में भी तो ऐसे पौधे होंगे,...अवश्य होंगे, और उनमें एक ऐसा पौधा भी होगा, जिसमें तुम्हारी आत्मीयता होगी !

[तरुण और भी उलझा सा, इधर उधर देख, दो चार पग चलने का उपक्रम कर रुक जाता है।]

नेपथ्य से

(अट्टहास) पथिक ! तुम थके हुए हो, उलझे हुए हो।.. समझ न सकोगे।...अरे ! हो, मैं भूली !.. उस ओर तो देखो... बेचारा बालक तुम्हारी ओर टकटकी लगाये हुए देख रहा है।.. तुमसे कुछ माँग रहा है, आगन्तुक !

[युवक तत्क्षण ही बालक की ओर देखता है, जिसकी तिरती हुई आँखें अब फिर कभी गेंद और कभी आगन्तुक की ओर देखती हैं। तरुण गेंद उठा लेता है और हाथ बढ़ाता हुआ बालक की ओर चलता है। बालक उसे अपनी ओर आते देख पीछे हटने लगता है।]

नेपथ्य से

मनाओ, मनाओ, पथिक ! कहीं बालक रूठ न जाय।.. यह मानव नंदन उपवन का सुकुमार पौधा है, माँ के अंचल में पनपा हुआ ! हाँ, देखो न उसके आनन की कान्ति को ! उसके मुख से कितनी भाव-रश्मियाँ फूट-फूट कर संसार को कितने संदेश दे रही हैं। पर, नहीं, नहीं, तुम उन भावों को कैसे समझ सकते हो ? तुम माँ नहीं हो;...माँ !

[युवक के पैर इस प्रकार रुक जाते हैं, मानो उनमें सीसा भर गया हो; साथ ही उस बोझ को न संभाल सकने के कारण उसके पैर लड़खड़ाने से लगते हैं। वह भौंचक्का-सा होकर फिर यहाँ-वहाँ देखता है। तरुण के रुक जाने से बालक का हटना भी रुक जाता है।]

नेपथ्य से

(रुंधे हुए गले से—भरे हुए स्वर में) **माँ !...जिसके जीवन का आत्मज होता है एक मात्र अवलंब;...जो नारी प्रदेश की बहती हुई पत्नित्व की निर्मल धारा को मातृत्व के अगाध सागर में समाहित कर देता है।...हाँ, पथिक ! देखो न, इसी बालक की ओर,.. इसका पिता इसकी माता से भ्रम-वश रूठ कर चला गया था, सुना, भ्रम-वश रूठ कर।...माँ तब से अपने प्रियतम को मनाती रही,...परन्तु उसका मौन पूजन अर्चन उसके देवता के पास कदाचित् नहीं पहुंचा, . किन्तु पूजन-अर्चन, पूजन-अर्चन ही तो है प्रसाद में उसे मिल गया उसके पति के द्वारा ही दिया गया यह...यह... यह, क्या कहूँ इसको ?**

[उपर्युक्त कथन आगन्तुक के पैरों के सीसे को गला देता है और वह आतुरता से झपट कर बालक की ओर बढ़, उसे गोद में उठा लेता है। यह इतना शीघ्र होता है कि बालक प्रयत्न करने पर भी भाग नहीं पाता। युवक के ललाट पर बिखरे मुक्ताओं के समान स्वेद के बिन्दु झलक आये थे और ढुलक गये नेत्रों से कुछ कण उमड़ कर। गोद में उठा पथिक बालक को न जाने कितनी बार चूमता है।]

नेपथ्य से

पुत्र में वह देखती है—पति के जीवन की छाया ! उसका सारा सुख ! और अपने युग युग की आशाओं तथा अभिलाषाओं का पूर्ण संचय !...तब...तब हो जाता है उसका स्नेह केन्द्रित पुत्र की परिधि बन कर !

[नेपथ्य का कथन समीप आता जान पड़ता है, उसी के साथ बालक का हाथ उठता है जिधर से कथन आ रहा है उस ओर। हाथ का उठाव और पुत्रवती का प्रवेश प्रायः साथ-साथ होते हैं। माँ को सामने देख कर बालक पथिक की गोद छोड़कर माता के समीप जाने की आतुरता दिखाता है, परन्तु तरुण उसे बाहुपाश में जकड़े हुए स्वयं उस ओर बढ़ता है। उसकी मुद्रा से जान पड़ता है कि वह बहुत कुछ कहने को अत्याधिक आतुर है, पर वाणी सुध-बुध खो बैठी है। फिर बवंडर से दृश्य का ढंकना, नेपथ्य से धीमी वाद्य-ध्वनि। धुंधलेपन में केवल इतना दिखता है कि पुत्रवती पति के पैरों में गिर रही है और पति के हाथ उसे संभाल रहे हैं। नेपथ्य से वृद्धा का स्वर सुनायी देता है]

वृद्धा

मेरे नन्हे ने मना लिया उन्हें।...उस कोमल सूत्र ने दो हृदयों को जो भ्रमवश अलग-अलग हो गये थे, एकाकार कर दिया! ...लहलहा, ...हां, लहलहा उठा मेरा उपवन।...माली थे मेरे देवता और मैं थी उनकी सहचरी!...अब...अब पौधे का उत्थान और सुथर निर्माण ही हमारे अपने जीवन का सब कुछ था तथा उसमें सुरभित सुमनों का खिल जाना ही जीवन की पूर्णता।

[बवंडर से दृश्य का ढँकना और तीव्र वाद्य-ध्वनि में वृद्धा के स्वर का लोप होना।]

छठवां दृश्य

वृद्धा

[हलके होते हुए बवंडर के मध्य श्री कृष्ण की मनोहारिणी मूर्ति का मुख दीख पड़ता है। धीरे-धीरे स्वच्छ होते हुए बवंडर में कृष्ण की पूरी मूर्ति और मूर्ति के सम्मुख इधर-उधर कुछ ढूंढती हुई वृद्धा दृष्टिगोचर होती है। वृद्धा पूजन करने के वेश में है। नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि बन्द हो जाती है।]

वृद्धा

बहू ! ओ बहू !...अरे मेरी सुमरनी कहाँ रख दी ? (कुछ रुक कर) **अरे ! कहाँ...कहाँ है ? बहू ?** (फिर कुछ रुक कर) **कोई नहीं सुनता। ...बुढ़ापे में भी ये लोग मुझे चैन नहीं लेने देते। दो घड़ी भगवान का भजन भी नहीं कर पाती।...दादी, दादी से पीछा छुड़ाती हूँ तो नानी, नानी वाले तंग करते हैं; और वह नन्हा,...इतना बड़ा तो हो गया है, पर भोजन करेगा तो मेरे हाथ का परोसा। बहू ? उससे कितनी बार कहा इतने बच्चों की माँ हो गयी है, ये ताले चाभी संभाले, पर उस छैल-छबीली को बनाव सिंगार से ही अवकाश नहीं। यदि किसी से कुछ कहने जाती हूँ, तो वे बरस पड़ते हैं मुझ पर; ...जैसे इन सब पर मेरा कोई अधिकार ही नहीं;...उन्हीं—उन्हीं का ठहरा !** (इतने में सुमरनी मिल जाती है। सुमरनी ले वह कृष्ण-मूर्ति की ओर मुख कर, आसन पर बैठ मूर्ति की ओर देखते हुए जप करना आरंभ करती है। कुछ ही देर पश्चात् जप रोक कर, मूर्ति से) **मुरलीधर, तुमने मुझे सब कुछ दिया।...हां, हां, क्या नहीं दिया ? अब यही प्रार्थना है कि तुम्हारा यह उपवन सदा लहलहाता रहे और इसमें सदैव ही नये नये प्रसून प्रफुल्लित होते रहें, अपना सौरभ फैलाते रहें।** (फिर जप करने लगती है। कुछ ही देर में ध्यान से कुछ सुनते हुए, जप बन्द कर) **आती हूं, बाबा ! जप पूरा थोड़े ही करने दोगे ? पर भोग तो लगा लेने दो।** (मिष्टान्न का एक थाल मूर्ति के सम्मुख सरका कर, आरती

करती है। घन्टी का शब्द सुन कर कई बच्चे दौड़ कर वहाँ आ जाते हैं। आरती समाप्त होने पर, थाल से प्रसाद उठा-उठा कर बच्चों को देते हुए, ऊंचे स्वर में)...**बहू। नन्हा !...लो, प्रसाद ले जाओ।** (बहू आती है और प्रसाद पाती है। नन्हा आता है। इतने में ही बादल की गड़-गड़ाहट सुन पड़ती है और पवन के प्रबल झोंके के कारण निकट की खिड़-कियाँ खुल जाती हैं। वृद्धा अंचल से आरती को संभालती है। खुली खिड़-कियों से चमकती हुई चपला और उसी के साथ उसकी तीव्र कड़कड़ाहट सुनायी देती है। वेग से वायु का झकोरा फिर आता है, जिससे आरती बुझ जाती है। अब उसमें केवल धूम निकलता है। दामिनी की दमक तथा कड़क के कारण भयभीत हो बच्चे दौड़ कर वृद्धा से लिपट जाते हैं।) **अरे !**

अरे ! दीप दीप बुझ गया।...बहू !...बहू !...बच्चों को तो संभाल !...नन्हे !...उन्हें...उन्हें...तो देख, बेटा !...इस प्रभंजन में बाहर...बाहर तो...ओह !...ओह ! ..कैसा भीषण...

[एकाएक बवंडर दृश्य को ढँक लेता है। इस बार नेपथ्य की वाद्य-ध्वनि के साथ साथ मेघों की गड़गड़ाहट सौदामिनी की कड़कड़ाहट और झंझावात वेग के शब्द मिले हुए हैं; जिसके कारण वृद्धा के आगे का अंश सुन नहीं पड़ता।]

उपसंहार

[बवंडर की कालिमा बदलों में परिवर्तित हो जाती है जिसमें चंचला की चपल चमक है। घटाओं का घोष भी सुन पड़ता है। प्रभंजन की प्रबल से वेग बह रहा है। बादलों के नीचे उपक्रम का सारा दृश्य दिखायी पड़ता है। समुद्र के किनारे बालू पर वृद्धा का निश्चेष्ट शरीर पडा है, जिस पर सागर की तरँगें थपेड़े दे रही हैं। दूर पर ऊँची-ऊँची लहरें दृष्टिगोचर होती हैं। अनन्त भूमि से उसी चँचलता से उछलता कूदता हुआ महोंमियों पर पहुँच जाता है। अब वह तरँगों के पथ से क्षितिज की ओर जाता हुआ दिखायी देता है।]